

वास्तु-शास्त्र में सूक्ष्म दिक्-ज्ञान की उपादेयता

[डॉ० अनिल कुमार पोरवाल]

ज्योतिर्विज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

जहाँ मनुष्य निवास करते हैं उसे ही 'वास्तु' कहा जाता है। आचार्य यास्क के अनुसार 'वास्तु' शब्द निवासार्थक 'वस्' धातु से बनता है- 'वास्तुवसतेर्निवासकर्मणः'¹। फलतः 'वसन्ति प्राणिनो यत्र' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'वास्तु' शब्द का अर्थ- गृह अथवा गृहकरण योग्य भूमि है। वास्तु के कई भेद हैं- गृह, देवालय, ग्राम, नगर, पुर, प्रासाद, दुर्ग आदि। भौतिक दृष्टि से सुख-सुविधाओं को ध्यान में रखकर कोई भी ग्रह (आवास योग्य भवन) बनाया जाता है, परन्तु वहाँ वास्तविक रूप में व्यक्ति सुखी रहेगा या नहीं, इस बिन्दु पर आधुनिक भौतिकवादी निर्माणकर्त्ता (Architect) ध्यान नहीं देते हैं। जिस प्रकार के निर्माण में व्यक्ति सुखी एवं समृद्ध रहेगा, उन तथ्यों पर विचार करना ही वास्तुशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है। अतः सुख-प्रदायक गृह ही मनुष्य जीवन की आवश्यकता है। क्योंकि पारिवारिक जीवन के सुखोपभोग का हेतु, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष रूपी पुरुषार्थचतुष्टय का प्रदाता, शीतातप एवं वृष्टि से और शत्रुओं से रक्षा करने वाला, माङ्गलिक तथा धार्मिक कृत्यों के सम्पादन हेतु स्थान स्वरूप और सुख का आगार, सभी प्राणियों का विश्राम स्थल अपना आवास ही होता है।

गृहस्थ के सभी कार्य गृह में ही सम्पन्न होते हैं, अतः विश्वकर्मा प्रभृति देवों ने गृहस्थ को प्रथमतः को गृह-निर्माण का आदेश दिया है-

स्त्रीपुत्रारिकभोगसौख्यजननं धर्मार्थकामप्रदम् ।
जन्तूनामयनं सुखास्पदमिदं शीताम्बुधर्मापहम् ।।
वापीदेवगृहादिपुण्यमखिलं गेहात्समुत्पद्यते ।
गेहं पूर्वमुशन्ति तेन बिबुधाः श्रीविश्वाकर्मादयः ।।²

इस प्रकार, प्रत्येक व्यक्ति का अपना निवास, घर या गृह होना चाहिए क्योंकि इसके बिना व्यक्ति के श्रौत और स्मार्त कर्म पूर्ण फल प्रदान नहीं करते, यदि उक्त कर्म किसी दूसरे की भूमि या घर में किये जाय तो उसका फल भूमि स्वामी या गृहस्वामी को प्राप्त होता है। जैसा कि भविष्यपुराण में उल्लिखित है-

¹. निरुक्त, 10/2/9

². बृहद्वास्तुमाला, 1/4

गृहस्थस्य क्रियाः सर्वा न सिद्धयन्ति गृहं बिना ।
यतस्तस्माद् गृहारम्भप्रवेशसमयौ ब्रुवे ॥
परगेहे कृताः श्रौतस्मार्तक्रियाः शुभाः ।
निष्फलाः स्युर्यतस्तासां भूमीशः फलमश्नुते ॥³

त्रिस्कन्ध ज्योतिषशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्त दिक्-देश-काल का प्रत्यक्ष सम्बन्ध वास्तुशास्त्र से होने के कारण इसका उल्लेख प्रायः संहिता स्कन्ध के अन्तर्गत प्राप्त होता है परन्तु वास्तुशास्त्र के गणितीय पक्ष का सम्बन्ध सिद्धान्तस्कन्ध तथा मानवीय पक्ष का सम्बन्ध होरास्कन्ध से प्रत्यक्षतः दृष्टिगत है।

गृह के दो अङ्ग हैं- निर्माण और प्रवेश। प्रवेश भी तीन प्रकार से होता है- अपूर्व, सपूर्व और द्वन्दाभय प्रवेश-

अपूर्वसंज्ञः प्रथमप्रवेशः यात्रावसाने च सपूर्वसंज्ञः ।
द्वन्दाभयं चाग्निभयादिजातं गृहप्रवेशं त्रिविधं वदन्ति ॥⁴

इनमें अपूर्वसंज्ञक गृहप्रवेश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि सर्वथा नवीनगृह में किया जाने वाला प्रवेश ही अपूर्वसंज्ञक गृहप्रवेश है और इस हेतु प्रवेश पूर्व गृह-निर्माण सुनिश्चित है। गृह-निर्माण के लिए सर्वप्रथम भूमिपरीक्षण (क्षेत्रमादौ परीक्षयेत् गन्धवर्णरसप्लवैः⁵) करके सम्यक् प्रकार से दिक्-साधन करना चाहिए⁶, नारदसंहिता⁷ में भी ऐसा ही उल्लिखित है। अन्यथा कुल का नाश होता है जैसा कि वास्तुरत्नाकर में कहा गया है-

प्रासादे सदनेऽलिन्दे हारे कुण्डे विशेषतः ।
दिङ्मूढेकुलनाशः स्यात् तस्मात् संसाधयेद्दिशः ॥⁸

³. भविष्यपुराण उद्धृत वास्तुरत्नाकर, 1/7-8

⁴. वास्तुसौख्यम्, आ० श्री कमलाकान्त शुक्ल, भूमिका पृष्ठ 2

⁵. वास्तुसौख्यम्, 2/14

⁶. एवं लक्षणसंयुक्ते क्षेत्रे सम्यक्समीकृते।

दिकसाधनाय तन्मध्ये समं मण्डलमालिखेत् ॥ (वास्तुसौख्यम्, 2/8)

⁷. नारदसंहिता, 31/6-7

⁸. वास्तुरत्नाकर, दिक्साधनम्, श्लोक 1

दिक्-साधन हेतु बृहद्वास्तुमाला में कहा गया है कि सर्वप्रथम समधरातल (दर्पणोदर धरातल) पर सिद्धान्त ग्रन्थों में लिखी रीति के अनुसार स्पष्ट पूर्वापर का साधन करके उसके बाद उस भूमि पर घर बनवाना चाहिए-

प्रथमं सुसमे जेत्रे प्राचीं संसाधयेत् स्फुटम्।
सिद्धान्तोक्तप्रकारेण ततो निष्पादयेत् गृहम्॥⁹

ज्योतिषशास्त्र के सिद्धान्त स्कन्ध में दिक्-साधन स्थूल-सूक्ष्म भेद से दो प्रकार से बताया गया है। लेकिन स्थूल दिशाएँ केवल यात्रादि में ही ग्राह्य हैं। स्थूलदिग्ज्ञान हेतु श्रीमद्भास्कराचार्य ने अत्यन्त सरलता से कहा है कि जिस दिशा से सूर्य का उदय होता है वह पूर्व, और जिस दिशा में सूर्य अस्त होता है वह पश्चिम दिशा होती है। इन दोनों बिन्दुओं को मिलाने वाली रेखा के दोनों ओर मत्स्य बिन्दुओं पर अन्य दिशाएँ अर्थात् उत्तर दिशा में मेरु तथा दक्षिण दिशा में कुमेरु स्थित हैं। जैसा कि उद्धृत है-

यत्रोदितोऽर्कः किल तत्र पूर्वा तत्रापरा यत्र गतः प्रतिष्ठाम्।
तन्मत्स्योऽन्ये च ततोऽखिलानामुदक् स्थितो मेरुरिति प्रसिद्धम्॥¹⁰

परन्तु श्रौतस्मार्त-याज्ञिक-कुण्ड-मण्डप-गृहादिक के निर्माण में सूक्ष्म-दिशा अपेक्षित होने के कारण सूक्ष्म-दिशा का ज्ञान अपरिहार्य है, क्योंकि वास्तविक दिशा से अन्तरित होने पर सम्पूर्ण वास्तु-विन्यास परिवर्तित हो जायेगा, जिससे वास्तुशास्त्र के मौलिक उद्देश्यों की पूर्ति सम्भव न होगी। सिद्धान्त ज्योतिष में स्थूल-सूक्ष्म दिशा के अन्तर का कारण स्पष्ट करते हुए यह वर्णन प्राप्त होता है कि सूर्य की क्रान्ति की विलक्षणता (प्रतिक्षण परिवर्तन) के कारण उदयास्त बिन्दुओं की प्रतिदिन भिन्नता से सूर्य का उदयास्त स्थूल पूर्वापर दिशा में होता है। केवल विषुवदिवसों (विषुवतवृत्त क्रान्तिवृत्त का सम्पात बिन्दु¹¹) में ही सूर्य के उदयास्त और पूर्वापर सूत्रों के मध्य-अन्तर का अभाव होने के कारण स्थूल दिशा ही सूक्ष्म दिशा होती है। परन्तु अन्य दिवसों में सूर्य का उदयास्त बिन्दु पूर्वापर रेखा से अग्रा¹² तुल्य अन्तर पर स्थित रहता है इसलिए इन दिवसों में सूक्ष्म-दिशा के आनयन की विधियाँ सिद्धान्तग्रन्थों में उल्लिखित हैं।

⁹. बृहद्वास्तुमाला, 2/2

¹⁰. सिद्धान्त शिरोमणि, गोलाध्याय, भुवनकोश, श्लोक 45

¹¹. वृत्तं च यत्खाङ्कलवैः कदम्बात् तत् क्रान्तिवृत्तं किल राशिवृत्तम्।

तन्नाडिकावृत्तयुतिद्वयस्थौ तौ सायनौ मेषतुलादिसंज्ञौ॥ (सिद्धान्ततत्त्वविवेक, त्रिप्रश्नाधिकार, 14-15)

¹². पूर्वापरउदयास्ताख्यसूत्रयोरन्तरं भवेत्।

सर्वत्रैवाग्रकातुल्यं व्यासाख्यप्राक्परान्तरे॥

(गोलपरिभाषा, श्लोक-51)

सूक्ष्म दिक्-साधन भी शास्त्र में दिवा-काल होने पर शङ्कु के माध्यम¹³ से पलभा¹⁴ (अक्षभा) द्वारा तथा रात्रि-काल होने पर ध्रुवनक्षत्र वेध¹⁵ के द्वारा बतलाया गया है।

दिवा-काल में सूक्ष्म दिक्-साधन की विधि का उल्लेख करते हुए भास्कराचार्य कहते हैं कि जल से सुसमीकृत अर्थात् समान की गई भूमि में (इष्टदिन मध्याह्न छाया व्यासार्द्ध) इष्ट प्रमाण का वृत्त बनावे जिसके केन्द्र में शङ्कु स्थापित करें। उसकी छाया पूर्वाहण में वृत्त की परिधि में जहाँ प्रवेश करे वह पश्चिम दिशा और मध्याह्नोत्तर उसी शङ्कु की छाया जहाँ उस वृत्त परिधि से निकलती हुई स्पर्श करे, वह बिन्दु पूर्व दिशा का होगा (इस प्रकार पश्चिम बिन्दु का ठीक-ठीक ज्ञान हो गया परन्तु प्रतिक्षण क्रान्ति की विलक्षण गति लक्षित होने के कारण पूर्व बिन्दु का ठीक ज्ञान नहीं हुआ)। अतः छायाप्रवेश और छायानिर्गम काल की पृथक्-पृथक् क्रान्तिज्याओं के अन्तर को छाया-कर्णमान से गुणा करके लम्बज्या से भाग देने पर जो अङ्गुलादिक लब्धि हो उतना अयन की दिशा की ओर वृत्त में चला दें तो स्पष्ट पूर्व बिन्दु प्राप्त हो जाता है। उसके बाद पूर्व और पर दोनों बिन्दुओं से मत्स्योपादन करके याम्योत्तर का साधन करना चाहिए। जैसा कि श्रीमद्भास्कराचार्य जी के द्वारा कहा गया है -

वृत्तेऽम्भः सुसमीकृतक्षितिगते केन्द्रस्थशङ्को कमाद्
भागं यत्र विशत्यैति च यतस्तत्रापरेन्द्रयौ दिशौ।
तत्कालापमजीवयोस्तु विवराद्भाकर्णमित्याहता-
ल्लम्बज्याप्तमिताङ्गुलैरयनदिश्यैन्द्री स्फुटा चालिता॥¹⁶

इसके साथ ही साथ श्रीमद्भास्कराचार्य जी ने शङ्कु का परिमाण स्वयं ही वासनाभाष्य¹⁷ में द्वादश अङ्गुल बताते हुए यन्त्राध्याय में शङ्कु लक्षण का भी उल्लेख करते हुए कहा है-

समतलमस्तकपरिधिर्भूमिसिद्धदन्तिदन्तजः शङ्कुः।
तच्छायातः प्रोक्तं ज्ञानं दिग्देशकालानाम्॥¹⁸

¹³ शङ्कुवङ्गुलविस्तारे वृत्ते छायाप्रवेश-निर्गमनात्।
अपरेन्द्रीकसिद्धिर्यवैश्च याम्योत्तरे कार्ये॥

(पञ्चसिद्धान्तिका, चतुर्थाध्याय, श्लोक-19)

¹⁴ एवं विषुवती छाया स्वदेशे या दिनार्धजा।
दक्षिणोत्तररेखायां सा तत्र विषुवत्प्रभा॥

(सूर्यसिद्धान्त, त्रिप्रश्नाधिकार, श्लोक-12)

¹⁵ यद्वाधुवादेव सदोत्तरा दिग् ज्ञेयान्य दिग्ज्ञानमतः सुबोधम्।

(सिद्धान्ततत्त्वविवेक, त्रिप्रश्नाधिकार, श्लोक-375)

¹⁶ सिद्धान्त शिरोमणि, गणिताध्याय, त्रिप्रश्नाधिकार, श्लोक-8

¹⁷ सिद्धान्त शिरोमणि, गणिताध्याय, त्रिप्रश्नाधिकार, वासनाभाष्य, पृ० 151

¹⁸ तदैव, गोलाध्याय, यन्त्राध्याय, श्लोक 9

सूर्यसिद्धान्त में भी दिक्-साधन ज्ञान का ऐसा ही प्रयोग लिखा गया है-

शिलातलेऽम्बुसंशुद्धे वज्रलेपेऽपि वा समे ।
तत्र शङ्क्वङ्गुलैरिष्टैः समं मण्डलमालिखेत् ।।
तन्मध्ये स्थापयेत्शङ्कु कल्पनाद्वादशाङ्गुलम् ।
तच्छायाग्रं स्पृशेद्यत्र वृत्ते पूर्वपरार्धयोः ।।
तत्र बिन्दू विधायोभौ वृत्तपूर्वपराभिधौ ।
तन्मध्ये तिमिना रेखा कर्त्तव्या दक्षिणोत्तरा ।¹⁹

ग्रहलाघव में दिक्-साधन तुरीय यन्त्र के माध्यम से आनयित किया गया है-

समभुवि निहिते तुरीययन्त्रे स्पृशति यथा च दिगंशकाग्रकेन्द्रे ।
अवलम्बविभोत्थकेन्द्रसंस्थेषीकाभाथ दिशोऽत्र यन्त्रगाः स्युः ।।²⁰

तुरीययन्त्र में याम्योत्तर तथा पूर्वापर दिशाएँ ज्ञात रहती हैं परन्तु तुरीययन्त्र के सर्वत्र अनुपलब्धता के कारण इसका प्रयोग सभी कार्यों में सम्भव नहीं है। हालाँकि अन्य स्थान पर गणेश दैवज जी ने दिक्-साधन को सरलता से बताते हुए लिखा है²¹ कि समतल भूमि पर बनाए गए वृत्त के मध्य में रखे गए शङ्कु की छायाग्र का जहाँ प्रवेश तथा निर्गम हो वही क्रमशः पश्चिम और पूर्व दिशा होगी और इस पूर्वापर रेखा पर मत्स्योपादन करने पर दक्षिणोत्तर दिशा प्राप्त हो जायेगी।

कुण्डमण्डपसिद्धौ में भी दिग्ज्ञान की विधि प्रकारान्तर से कही गयी है कि मध्याह्नकाल में सप्त अङ्गुल परिमाण शङ्कु की छायाग्र से शङ्कुमूल तक गया सूत्र जिस दिशा में जाता है वह उत्तर दिशा होती है, जिनके द्वारा अन्य दिशाओं का भी ज्ञान हो जायेगा। जैसा कि उद्धृत है-

दिनमानदले सप्ताङ्गुलच्छायाग्रतो हि यत् ।
शङ्कुमूले नीयमानं सूत्र स्यादुत्तरा दिशा ।।²²

¹⁹ . सूर्यसिद्धान्त, त्रिप्रश्नाधिकार, श्लोक 1-3

²⁰ . ग्रहलाघव, त्रिप्रश्नाधिकार, श्लोक-25

²¹ . वृत्ते समभूगते तु केन्द्रस्थितशङ्को कमशो विशत्यपैति ।
छायाग्रमिहापरा च पूर्वा ताभ्यां सिद्धतिमेरुउदकश्च याम्या ।।

(ग्रहलाघव-त्रिप्रश्नाधिकार, श्लोक-22)

²² . कुण्डमण्डपसिद्धौ, श्लोक-12

नारदसंहिता²³ में भी इसी प्रकार दक्षिणोत्तर दिशा के साधन की विधि समुचित प्रकार से उत्पादित की गयी है। राजवल्लभमण्डन²⁴ में शङ्कु के माध्यम से ही पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण के ज्ञान का वर्णन किया गया है परन्तु यहाँ द्वादशाङ्गुल शङ्कु का प्रयोग द्वात्रिंशत् अङ्गुलात्मक वृत्त में कहा गया है। सिद्धान्तदर्पण²⁵ तथा सूर्यसिद्धान्त²⁶ में इसका और विस्तार करते हुए इनकी कोणदिशाओं (विदिशाओं) के आनयन का भी वर्णन किया गया है।

रात्रिकाल में दिक्-साधन के सन्दर्भ में वास्तुराजवल्लभ में कहा गया है-

तारे मार्कटिके ध्रुवस्य समतां नीतेऽवलम्बे नते,
दीपाग्रेण तदैक्यतश्च कथिता सूत्रेण सौम्यादिशा।
शङ्कोर्नेत्रगुणे तु मण्डलवरे छाया द्वयान्मत्स्ययो-
र्जाता यत्र युतिस्तु शङ्कुतलतो याम्योत्तरे स्तः स्फुटे।²⁷

अर्थात् सप्तर्षि तारों में जो पहले दो तारे हैं उनको मार्कटिका कहते हैं। वे और ध्रुव जब एक सूत्र में हो जाय तो शङ्कु से दक्षिण भाग में एक दीपक रखें। दीपक की शिखा, शङ्कु का अग्र भाग और ध्रुव, जब ये तीनों एक सीध में दिखाई पड़ें तो शङ्कु से दीपक को दक्षिण समझना चाहिए अथवा तीन अङ्गुल के वृत्त के मध्य में द्वादशाङ्गुल शङ्कु रखना चाहिए जहाँ उसकी छाया वृत्त में प्रवेश करे वहाँ पश्चिम और जहाँ वृत्त के बाहर निकल जाय वह पूर्व दिशा होगी। दोनों बिन्दुओं से मत्स्य बनाने पर उनके योग में की हुई रेखा दक्षिणोत्तर होती है। इसी परम्परा को बल देते हुए कमलाकर भट्ट जी ने 'सिद्धान्ततत्त्वविवेक' में कहा है-

यद्वा ध्रुवादेव सदोत्तरा दिग्ज्ञेयाऽन्यदिग्ज्ञानमतः सुबोधम्।²⁸

स्थान विशेष तथा नक्षत्रवेध के द्वारा भी रात्रि में दिग्ज्ञान का वर्णन 'वास्तुरत्नाकर' ग्रन्थ में प्राप्त होता है-

चित्रास्वात्यन्तरे श्रोणादक्षिणापथवासिनाम्।
प्राची तु कृत्तिका ज्ञेया उत्तरापथवासिनाम्।²⁹

²³ . नारदसंहिता, 31/9-10

²⁴ . राजवल्लभमण्डन, 1/11

²⁵ . सिद्धान्तदर्पण, त्रिप्रश्नाधिकार, 2-4

²⁶ . सूर्यसिद्धान्त, 3/3-4

²⁷ . वास्तुराजवल्लभ, 1/11

²⁸ . सिद्धान्ततत्त्वविवेक, त्रिप्रश्नाधिकार, श्लोक-375

अर्थात् उज्जयिनी³⁰ से दक्षिण देशवासियों को चित्रा और स्वाती के अन्तर से पूर्वापर दिशा का ज्ञान करना चाहिए। अर्थात् दृष्टि को स्थिर करके पहले नलिका द्वारा चित्रा नक्षत्र का वेध करके नलिकाग्र से समतल भूमि पर लम्ब डालें तत्पश्चात् उसी दृष्टि से स्वाती का वेध करके नलिकाग्र से दूसरा लम्ब भूमि पर डालकर, दोनों लम्बमूलों में सूत्र बांधने से पूर्वापर दिशा का ज्ञान हो जायेगा। इसी प्रकार उज्जयिनी से उत्तर भाग के निवासियों को कृत्तिका नक्षत्र के वेध से प्राची दिशा का ज्ञान करना चाहिए। इन नक्षत्रों का वेध युगमात्र (86 अङ्गुल) ऊपर नक्षत्रों के आ जाने पर करना चाहिए। जैसा कि कात्यायन शुल्बसूत्र में उद्धृत है-

कृत्तिकाश्रवणः पुष्यश्चित्रा स्वात्योर्यदन्तरम्।
एतच्चप्राच्यादिशो रूपं युगमात्रोदिते पुरः॥³¹

इस प्रकार, ज्योतिषशास्त्र के अन्तर्गत अनेक भेद से दिक्-साधन की विधियाँ कही गयी हैं जो कि वास्तुशास्त्र में निर्दिष्ट गृह-निर्माण, भूमिपरीक्षण आदि सिद्धान्तों के परिपालन हेतु आवश्यक हैं। वर्तमान समय में दिक्-साधन हेतु वास्तुशास्त्री व वास्तुविद् चुम्बकयन्त्र (Compass) का प्रयोग सामान्य रूप से करते हुए दिखते हैं। चुम्बक यन्त्र के विषय में कमलाकर भट्ट ने सिद्धान्ततत्त्वविवेक में लिखा है-

सच्चुम्बकादेव सुशिल्पविज्ञाः कुर्वन्ति दिग्ज्ञानमिहान्यथैव।
पूर्वापरायाऽत्र कृता प्रकारैर्ज्ञेया बुधैः सा सममण्डलीया ॥³²

इससे यह ज्ञान होता है कि कमलाकरभट्ट के काल से ही (1610-1640 ई0 वर्ष) दिग्ज्ञान हेतु शङ्कु के अतिरिक्त चुम्बकयन्त्र का प्रयोग प्रचलन में आ गया था। चुम्बकयन्त्र का अग्र भाग सदैव उत्तर की ओर तथा पृष्ठ भाग सदैव दक्षिण में रहता है। इस प्रकार से याम्योत्तर दिशा का ज्ञान सरलतया चुम्बकयन्त्र के द्वारा किया जा सकता है। परन्तु चुम्बकयन्त्र के द्वारा ज्ञात उत्तर या दक्षिण दिशा चुम्बकीय याम्योत्तर (Magnetic Meridian) को परिलक्षित करती है जो वास्तविक याम्योत्तर (True Meridian) से सदैव कुछ अन्तर पर होता है। चुम्बकीय और वास्तविक याम्योत्तर को परिभाषित करते हुए आधुनिक विद्वान् एस0के0 दुग्गल लिखते हैं³³-

²⁹. वास्तुरत्नाकर, 2/5

³⁰. निरक्षदेशात् क्षितिषोडशांशे भवेदवन्ती गणितेन तस्मात्। (सिद्धान्त शिरोमणि, भुवनकोश, गोलाध्याय, श्लोक 15)

³¹. कात्यायनशुल्बसूत्र, 7/35

³². सिद्धान्ततत्त्वविवेक-त्रिप्रश्नाधिकार, श्लोक-378

³³. Surveying-S.K. Duggal, Pg. 89-90

True Meridian (Geographic North) is in the direction along the earth's surface towards the Geographic North Pole. And **Magnetic Meridian** is direction indicated by a freely suspended and balanced magnetic needle unaffected by local attractive forces. The location of the magnetic poles is constantly changing hence the direction of magnetic meridian also changes.

अतः यह स्पष्ट है कि चुम्बकयन्त्र (Compass) द्वारा सूक्ष्मदिशा का बोध न होकर स्थूल दिशा का बोध होता है। इससे प्राप्त दिशा में दोनों के कोणीय-अन्तर स्वरूप क्रान्ति (Declination) का संस्कार करने पर वह वास्तविक याम्योत्तर प्राप्त हो सकता है। इसी रहस्य का उद्घाटन भास्कराचार्य जी ने सिद्धान्त शिरोमणि में किया है-

यथोज्जनिन्याः कुचतुर्थभागे प्राच्यां दिशि स्याद्यमकोटिरेव।
तत्तश्च पश्चान्न भवेदवन्ती लङ्कैव तस्याः ककुभि प्रतीच्याम्।
तथैव सर्वत्र यतो हि यत् स्यात् प्राच्यां ततस्तन्न भवेत् प्रतीच्याम्।
निरक्षदेशादितरत्र तस्मात् प्राचीप्रतीच्यां च विचित्रसंस्थे।³⁴

इस प्रकार, केवल कात्यायन, ज्योतिषशास्त्र व वास्तुशास्त्र में कही गयी सूक्ष्म दिक्-साधन की पद्धतियाँ वास्तुशास्त्र के सन्दर्भ में समीचीन प्रतीत होती हैं जो कि वर्तमान काल में भी सूक्ष्मतया विशुद्ध प्राच्यादिक दिक्-साधन में अपेक्षित हैं क्योंकि सूक्ष्म दिक्-ज्ञान के बिना यागवेदी-मण्डप-गृहनिर्माण, मन्दिर, कूपादि निर्माण, ग्रामनगरादि का निर्माण विन्यास सम्यक् रूप से सम्भव नहीं है, जिसके फलस्वरूप शास्त्रोक्त वास्तु की स्थिति, पद्विन्यास तथा तद्वर्जित शुभाशुभ फल द्रष्टव्य नहीं होंगे। अतः वास्तुशास्त्र में सूक्ष्म दिक्-ज्ञान की महत्ता स्वयं ही सिद्ध होती है।

³⁴. सिद्धान्त शिरोमणि, गोलाध्याय, भुवनकोश, श्लोक 46-47